सामाजिक नज़रिए को बदलना

प्रतिभा कटियार



'सरकारी शिक्षक काम नहीं करते, बड़े मज़े की नौकरी है, छुट्टियाँ ख़ूब होती हैं, ख़ूब स्वेटर बुने जा सकते हैं, मूँगफलियाँ खाई जा सकती हैं इस नौकरी में, हफ़्ते में एक दिन भी पढ़ा दिया तो बच्चों का कल्याण होना तय है क्योंकि उनके लिए तो वह एक दिन ही काफ़ी है। कौन-सा उन्हें पढ़-लिखकर लाट गवर्नर बनना है।'

ऐसी तमाम धारणाएँ अब भी आसपास देखने को मिलती हैं। बच्चियों को बड़े होकर टीचर बनने की सलाह इसीलिए भी दी जाती है कि इस नौकरी में आराम बहुत है और इसके साथ घर आसानी से सम्भाला जा सकता है। समय बदल रहा है, लेकिन शिक्षा और शिक्षकों को लेकर समाज में व्याप्त मान्यताएँ भी बदल रही हैं क्या? अन्य राज्यों का तो पता नहीं लेकिन उत्तराखण्ड के सन्दर्भ में अपने अनुभवों के आधार पर इतना तो कह सकती हूँ कि ये निरी बासी हो चुकी मान्यताएँ हैं। शिक्षकों के पास अब वक़्त नहीं है कि सर्दियों की नर्म धूप में मूँगफली खाते हुए दिन काट सकें न ही उनके भीतर ऐसी कोई इच्छा है। वे जूझ रहे हैं कि किस तरह बच्चों के साथ ज़्यादा-से-ज़्यादा वक़्त बिताया जा सके। किस तरह उन्हें पढ़ाने के नए-नए ढंग जाने जा सकें।

उत्तराखण्ड की भौगोलिक परिस्थितियाँ अन्य राज्यों के मुक़ाबले बहुत अलग हैं। इन परिस्थितियों का अन्दाज़ा गूगल सर्च करके दिल्ली या बेंगलूरु में बैठकर नहीं लगाया जा सकता। यह बिलकुल उसी तरह है जैसे नदी के किनारे बैठकर नदी की धार पर बात करना। नदी की धार पर बात करने के लिए नदी की धार में उतरना होता है उसी तरह पहाड़ के दूर-दराज के गाँवों के सरकारी स्कूलों का हाल जानने के लिए वहाँ जाना ज़रूरी है।

स्कूल पहुँचते-पहुँचते साँस फूलने को होती थी। यूँ लगता अब एक क़दम भी चला नहीं जाएगा लेकिन फिर ध्यान आता कि जिस स्कूल में एक बार जाने में हाँफ रही हूँ वहाँ शिक्षक रोज़ इसी तरह इन्हीं रास्तों से इतनी ही दूरी तय करके जाते हैं। बच्चे भी जाते हैं। क्या शिक्षा के मुद्दों पर विमर्श करने वालों के अनुभव में ये रास्ते, ये दूरियाँ हैं, ये मुश्किलें हैं। यह तब जबकि ये रास्ते बहुत अच्छे हैं, कम-से-कम रास्ते तो हैं पैदल के सही, पथरीले-कँटीले ही सही, लम्बे ही सही। उन स्कूलों का भी ख़्याल आता है, जहाँ रास्ते ही नहीं हैं।

इन स्कूलों में पहुँचना ही उपलब्धि-सी मालूम होती है। इसके बाद स्कूल का संसार खुलता है। बच्चे एकदम स्मार्ट, अँग्रेज़ी-हिन्दी दोनों में बात करते (कुछ स्कूलों में), बात करने में एकदम मुक्त। सवाल खूब करते हैं। उनके पास यूनिफार्म है, मिड-डे मील एकदम स्वादिष्ट और ताज़ी सब्ज़ियों से बना हुआ। पढ़ाई के नए-नए तरीक़े ईजाद करते शिक्षक हैं जो बड़ी मोहब्बत से बच्चों के साथ कुछ-न-कुछ नया करते रहते हैं।

पर्यावरण अध्ययन के लिए जंगलों को निकल जाते हैं, गुरुजी को कुछ नई जानकारी बटोरकर लाकर देते हैं। कबीर-रहीम के दोहों की अन्ताक्षरी सुन लीजिए। अहा...क्या सुर, क्या समझ। हर दोहे का अर्थ पता है और ये प्राइमरी के बच्चे हैं। प्राथमिक विद्यालय सरखेत का नन्हा राहुल क्लास 1 में पढ़ता है जो 5 किमी पैदल चलकर आता है जिसके रास्ते में नदी भी पड़ती है। उसका स्कूल आने का उत्साह कोई तो कहानी कहता है। ऐसे न जाने कितने राहुल हैं।

मतलब साफ़ है कि बच्चों का स्कूल आने का मन कर रहा है और इस तरह स्कूल अपने पहले मक़सद में तो सफल हो ही चुका है। इसके बाद के बहुत सारे मक़सद स्कूल में जाने पर पूरे होने की प्रक्रिया में नज़र आते हैं। मैं उत्तराखण्ड के अलग-अलग ज़िलों के जिन स्कूलों में गई हूँ, वहाँ शिक्षकों को तमाम चिन्ताओं से बेपरवाह पाया। वे अपने काम का आनन्द ले रहे हैं। उनका सुख है बच्चों की आँखों की चमक।

जब मैं पहली बार 2012 में उत्तरकाशी के एक स्कूल जा रही थी और अपनी फूलती हुई साँस के चलते जगह-जगह बैठ जाती थी तो शिक्षिका जो हमारे साथ थीं कहतीं, 'आप एक बार जैसे ही स्कूल पहुँचेंगी सारी थकान भूल जाएँगी।' मुझे तब उनकी बात पर यक़ीन नहीं हुआ था लेकिन स्कूल पहुँचकर लगा सचमुच अब कोई थकान नहीं। जैसे किसी ख़्वाब के भीतर पाँव रख दिया हो। इतना सुन्दर भी कोई स्कूल होता है क्या!

मैं ख़ुद भी सरकारी स्कूल में पढ़ी हूँ लेकिन ऐसे स्कूल तो कल्पना में भी नहीं थे। बच्चे अपनी मौलिकता के साथ व्यवहार करते हैं। पढ़ने में उनका मन लगता है और वे ख़ूब सारे सवाल करते हैं।

बहुत सारे सरकारी स्कूलों में जाने के बाद मुझे एक बात पक्के तौर पर समझ में आई और बेहद पसन्द आई और वह

है सरकारी स्कूलों के बच्चों का आत्मविश्वास और उनकी मौलिकता। ये किसी फैक्ट्री में तैयार किए गए बच्चे जैसे नहीं लगते। इनका अपना महसूसना है, अपनी तरह से ये व्यवहार करते हैं, शरारत करते हैं। शिक्षकों से दोस्ताना तरह से पेश आते हैं और कभी-कभी शिक्षकों को बताते हैं कि वे जो बता रहे हैं वो ठीक नहीं है ठीक तो कुछ और है। उनका व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप से निखर रहा है। किसी तयशुदा खाँचे में फिट नहीं हो रहे हैं वे। जाहिर है इस तरह की स्वतंत्रता को सहेजने का श्रेय शिक्षकों का ही है।

यानी शिक्षक अब मूँगफली खाने और स्वेटर बुनने वाली इमेज से बाहर आ चुके हैं। वे पूरी ईमानदारी से पढ़ाते हैं। एनसीएफ के बरक्स अगर देखें तो आनन्दशाला की ओर तो सरकारी स्कूल ही अग्रसर हो रहे हैं भले ही बहुत कम हो पा रहा है ऐसा। लेकिन इन स्कूलों ने, शिक्षकों ने यह तो तय किया ही है कि चाह लो तो मुश्किल कुछ भी नहीं है।

जहाँ तक शिकायत करने वाले शिक्षकों का सवाल है उनकी संख्या भारी है, उनकी शिकायतें और समस्याएँ भी वाजिब होंगी ही। कुछ शिक्षकों के अपने काम से मोहब्बत करने से, बच्चों के साथ, समुदाय के साथ रिश्ता बनाने और हमारे लिए निराशा और नकारात्मकता के माहौल में कुछ अच्छा होते हुए देखने के सुख का यह अर्थ भी नहीं माना जा सकता कि सूरत-ए-हाल बदल चुका है। मामला 'इस हो पा रहे' और 'न हो पा रहे' के बीच के रास्ते को तय करने का है। जो शिक्षक अपने काम को प्यार की तरह अंजाम दे रहे हैं उनके पीछे कौन-सी ऊर्जा है और क्या उस ऊर्जा को, उन कारणों को समझकर उन्हें विस्तार दिया जा सकता है।

प्राथमिक विद्यालय सरखेत की शिक्षिका हेमलता कहती हैं कि, 'इतनी दूर से इतना लम्बा सफर तय करके हमारे पास बच्चे आते हैं ऐसे में हम उनके वक़्त का ठीक से प्रयोग नहीं करेंगे तो हमको तो पाप लगेगा न?' उन्हें टपकती हुई छत की भी फिक्र है, मिड-डे मील की क्वालिटी की भी और बच्चों के लर्निंग लेवल की भी। प्राथमिक विद्यालय द्वारा की दीप्ति रमोला कहती हैं, 'हम कितना ही काम कर लें हमारी इमेज वही है स्वेटर बुनने वाली। लेकिन अब हँसी आती है लोगों की बातों पर। हमें साँस लेने की फुर्सत नहीं होती स्वेटर बुनना तो बीते जमाने की बात हुई। लेकिन अब भी किसी शादी या फंक्शन में जाती हूँ तो लोग हँसकर पूछते हैं मैडम इस साल कितने स्वेटर बन गए? पहले गुस्सा आता था अब हँस देती हूँ।'

सरकारी स्कूलों में तो बहुत कुछ बदल रहा है, जो नहीं बदल रहा है उसे बदलने के प्रयास भी जारी हैं लेकिन सवाल यह है कि क्या हमारा सरकारी स्कूलों को देखने का नज़रिया बदल रहा है? क्या हमारी सरकारी शिक्षकों के प्रति राय बदल रही है? पहले हमें लगता था स्कूलों से शिक्षक ग़ायब रहते हैं। अब रिसर्च ने हमारी इस मान्यता की पोल खोल दी है। ऐसा ही और भी बहुत कुछ है जिसका सामने आना अभी बाकी है।

बदलना सिर्फ शिक्षकों को नहीं है, बदलना समाज के उनके प्रति रवैये को भी है। भरोसा करना ज़रूरी है।

प्रतिभा कटियार अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन, देहरादून में भाषा की स्रोत व्यक्ति हैं। वे फ़ाउण्डेशन की प्रकाशन टीम का भी हिस्सा हैं। साथ ही फ़ाउण्डेशन की पत्रिका 'प्रवाह' और 'उम्मीद जगाते शिक्षक' की सम्पादकीय टीम में भी हैं। वे कहानी लेखक, कवि और ब्लॉगर हैं। उनसे pratibha.katiyar@azimpremjifoundation.org पर सम्पर्क किया जा सकता है।